समग्र

समग्र

आचार्य विद्यासागर

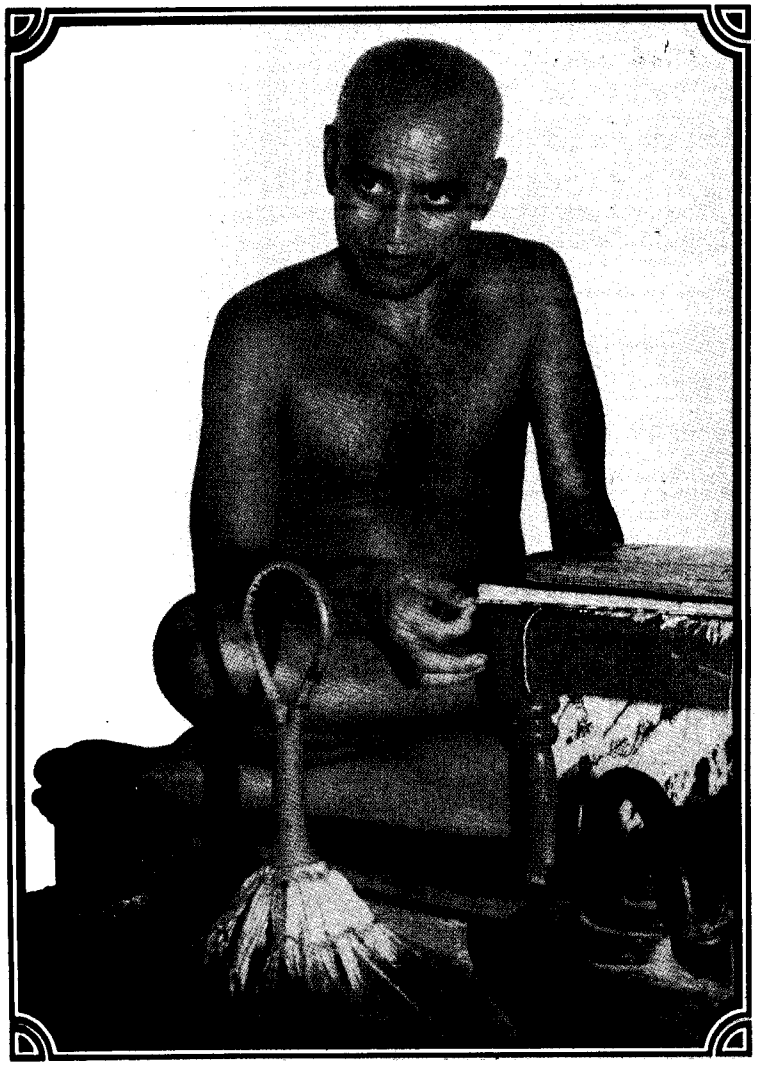

समग्र

आचार्य विद्यासागर

समग्र

खंड दो

आचार्य श्री विद्यासागर जी

समग्र प्रकाशन, सागर (म. प्र.)

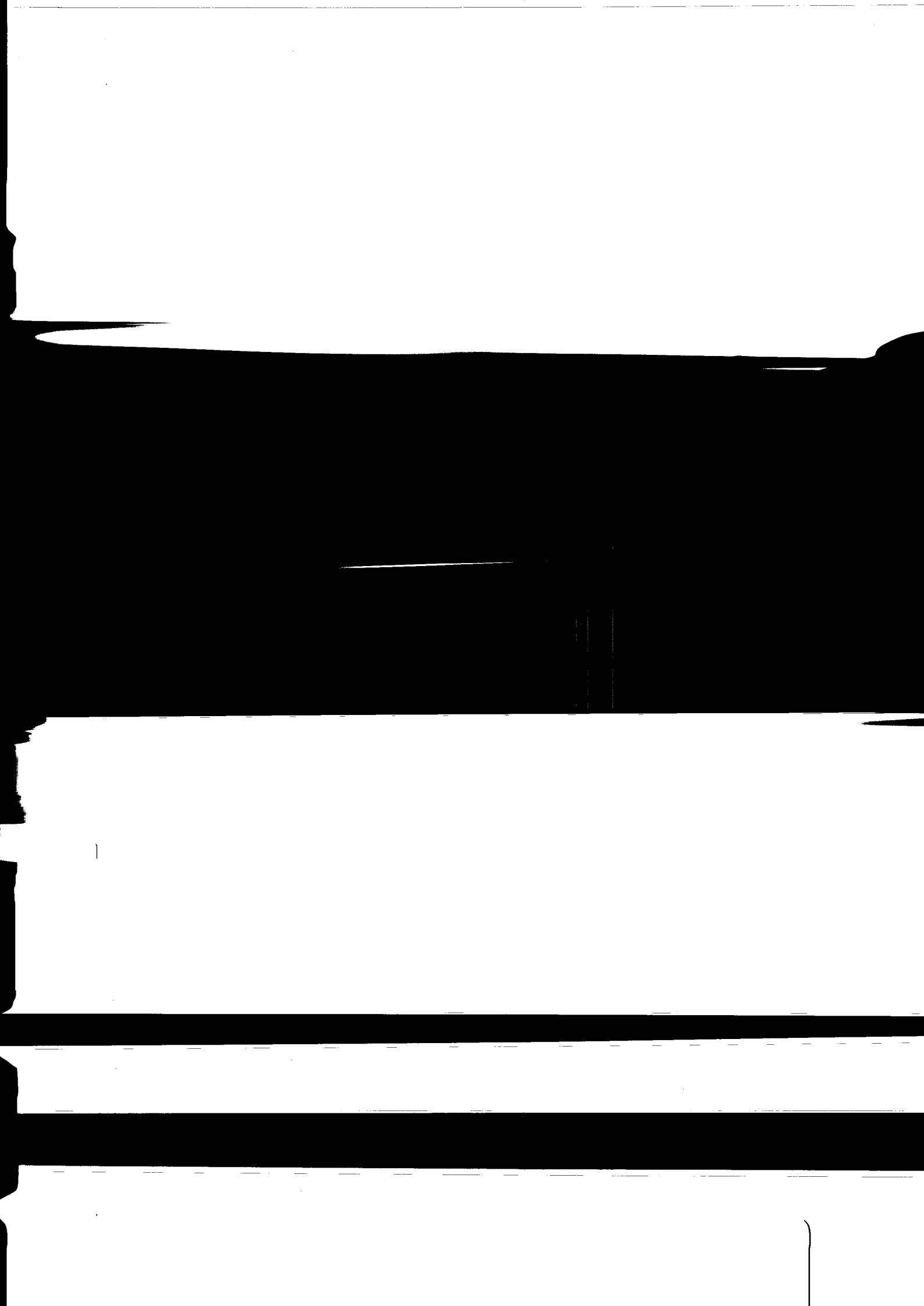

प्रेरणा एवं शुभाशीष :

परमपूज्य - मुनिश्री १०८ क्षमासागर जी

परमपूज्य - ऐलक श्री १०५ उदार सागर जी

परमपूज्य - ऐलक श्री १०५ सम्यक्तव सागर जी

समग्र - आचार्य श्री विद्यासागर जी

प्रकाशक - **समग्र प्रकाशन**, सागर (म. प्र.)

मुद्रक - **शकुन प्रिन्टर्स**, ३६२५ सुभाष मार्ग, नई दिल्ली-२

समग्र

आचार्य श्री विद्यासागर

समग्र प्रकाशन परिवार

- ❑ बैनाड़ा परिवार, आगरा (उ.प्र.)
- ❑ सुमेरमल पांड्या एवं पांड्या परिवार, आगरा (उ.प्र.)
- ❑ पवन कुमार, अशोक कुमार, निर्मल कुमार, विनोद कुमार दोशी, इन्दौर एवं बाकानेर (म.प्र.)
- ❑ संजय जैन पिताश्री स्व. खेमचंद जैन (मेक्स) एवं राजेन्द्रकुमार पिताश्री पूरनचंद जैन, इन्दौर (म.प्र.)
- ❑ भंवरलाल पाटई एवं पाटई परिवार, गुना (म.प्र.)
- ❑ संतोष कुमार जयकुमार जैन, सागर (म.प्र.)

प्राप्ति स्थान :
संतोषकुमार जयकुमार जैन (बैटरीवाला)
कटरा बाजार, सागर (म.प्र.)

मनोभावना

विगत बीस मास पूर्व की बात है, राजस्थान स्थित अतिशय क्षेत्र श्री महावीर जी में महावीर जयन्ती के सुअवसर पर ससंघ में उपस्थित था। उस समय 'समण सुत्तम्' का, जो सर्व सेवा संघ वाराणसी से प्रकाशित है, विमोचन हुआ। यह एक मान्य संकलित ग्रन्थ है। इसके संकलनकर्ता ब्र. जिनेन्द्र वर्णी, जो स्व. क्षु. गणेशप्रसाद जी वर्णी के अनन्य शिष्यों में एक हैं। आपने जैन सिद्धान्त का अवलोकन करके यह नवनीत समाज के सामने प्रस्तुत किया है। आपका यह कार्य प्रेरणाप्रद एवं स्तुत्य है।

इस ग्रन्थ में चारों अनुयोगों के विषय यथास्थान चित्रित हैं। अध्यात्मरस से ओत-प्रोत ग्रन्थराज समयसार, प्रवचनसार, नियमसार, अष्टपाहुड़, पंचास्तिकाय, द्रव्य संग्रह, गोमटसार आदि ग्रन्थों की गाथायें इसमें प्रचुर रूप से संकलित हैं। यह ग्रन्थ आद्योपान्त प्राकृत गाथाओं से संपादित है। पं. कैलाशचन्द सिद्धान्ताचार्य ने इस ग्रन्थ का संक्षेप किन्तु सुन्दर गद्यानुवाद किया है। जो जन प्राकृत भाषा से अनभिज्ञ हैं उन्हें यह ग्रन्थगत-विषय को समझने में सम्पूर्ण सहायक है।

'समणसुत्तं' के मूल प्रेरणा-स्रोत समाज सेवी, सर्व सेवा-संघ के निर्माता विनोबा जी (बाबा) हैं। पच्चीससौवें वीर निर्वाण महोत्सव के उपलक्ष में जैन समाज से आपने माँग की थी कि यद्यपि जैन साहित्य विपुल मात्रा में है, तथापि उससे सब लोग लाभ ले नहीं पा रहे हैं। अत: समाज के सम्मुख एक ऐसी कृति प्रस्तुत की जाय जिससे कि जैनेतर भी जैन दर्शन से आत्मोन्नति कर सकें। वह कार्य आज सानन्द सम्पन्न हुआ।

मन में बहुत काल से विचार करवटें ले रहा था कि एक ऐसा काव्य ग्रन्थ का निर्माण किया जाय कि आबाल-वृद्ध उस ग्रन्थ को संगीत के माध्यम से अल्प काल में ही पाकर, जैन दर्शन की उपयोगिता एवं ध्रुव बिन्दु के सम्बन्ध में परिचय प्राप्त कर सकें और जीवन को समुन्नत बना सकें। किन्तु काल-लब्धि के बिना भी कोई कार्य नहीं हो सकता और पुरुषार्थ से मुख मोड़कर काल-लब्धि की प्रतीक्षा करने से भी काल-लब्धि नहीं आ सकती है। इसी बीच बनारस के दो पत्रों के माध्यम से **'समणसुत्तम्' के पद्यानुवाद के लिए प्रेरणा प्राप्त हुई।** एक पत्र था श्रीमान् पं. जमनालाल जी शास्त्री का एवं दूसरा था श्रीमान् कृष्णराज जी मेहता का।

"शुभस्य शीघ्र" इस सूक्ति को चरितार्थ करते हुये, गुरु स्मृति के साथ ग्रन्थ का पद्यानुवाद प्रारम्भ किया। तीन चार स्थलों में गाथागत रहस्य को समझने में, पंडित कैलाशचन्द जी कृत गद्यानुवाद ने दीपक का काम किया है। किन्तु यह अनुमान नहीं था कि अनुवाद (पद्यानुवाद) इतने अल्प काल में सम्पन्न होगा। **पद्यानुवाद** में केवल साढ़े सात मास लगे और सिद्धक्षेत्र कुण्डलगिरि पर सानन्द सम्पन्न हुआ जो पाठकों के सम्मुख 'जैन गीता' के रूप में प्रस्तुत है।

जैन यह शब्द आज तक कई श्रीमानों, धीमानों एवं संतों की दृष्टि में भी जाति वाचक ही रहा है, जबकि वह उस सहज अजर अमर अमूर्त आत्मा की ओर मुमुक्षुओं को आकृष्ट करता है। विषय कषायों से ऊपर उठाकर उन्हें परम शांति पथ का प्रदर्शन कराता है। जैन इस शब्द की उत्पत्ति इस प्रकार है:- जयति स्वकीयानि इन्द्रियाणि आत्मनं स जिन:, जिन एव जैन इति। जो महापुरुष अपनी इन्द्रियाँ एवं आत्मा को पूर्णरूपेण जीतता है, उन्हें कुमार्ग से बचाता है वह 'जिन' है, 'जिन ही जैन' है जैन की गी: अर्थात् वाणी और उस गी: का भाव या सार के अर्थ में ता प्रत्यय का प्रयोग करने से गीता शब्द की निष्पत्ति होती है। अत: यह सुस्पष्ट हुआ कि उन जिनेन्द्र भगवान की वाणी के सार का नाम ही **"जैन गीता"** सिद्ध है।

पौद्गलिक परणतिरूप शब्दों में ही न उलझकर शब्दावबोध से अर्थावबोध एवं अर्थावबोध से उस परम सत्तारूप केन्द्र का भी अवगम प्राप्त कर, उस तक जाने का साधकों को, सतत प्रयास करते रहना चाहिये। इसी उद्देश्य को अपनी दृष्टि में रखकर साधनापथारूढ़ साधकों संतों ने स्व-पर कल्याण हेतु हित, मित, मिष्ट वचनों से हमें उस सहज चेतनामय सत्ता का उपदेश दिया है और आजीवन उस परमसत्ता का मनन-मंथन कर नवनीत के रूप में विपुल साहित्य का निर्माण किया है।

झर झर झरता झरना,
कहता चल 'चल' चलना ।
उस सत्ता से मिलना,
पुनि पुनि पड़े न चलना ॥

लिखना तज कर लिखना सहज शुद्धात्मा को अभीष्ट नहीं था, तथापि [illegible] परानुभूत संकल्प-विकल्प के संस्कार ने चंचल मन को लिखने के विकल्प की ओर आकृष्ट किया, फलस्वरूप आभ्यन्तर परणति छूटी और बहि: परणति प्रवाहित हुई। छद्मस्थ का मनोबल इतना निर्बल है कि वह अन्तर्मुहूर्त के उपरान्त अपने चंचल स्वभाव का परिचय दिये बिना नहीं रहता। इसी से इस मन ने प्रस्तुत कृति लिखने का विकल्प किया। यह भी समयोचित ही हुआ। आगमोल्लेख है कि विषय-कषाय रूप अशुभोपयोग से बचने के लिये सहज स्वभाव शुद्धोपयोग की उपलब्धि के लिये तत् साधनभूत शुभोपयोग का आलंबन लेना मुनियों, सत्पथ साधकों एवं संतों के लिये भी सामयिक उपादेय है ही। **अत: मनोभावना यही है कि अध्यात्मरस से परिपूरित इस कृति का मनोयोग से आस्वादन कर भव्य पाठक परम तृप्ति का अनुभव करें !**

समता अरुणिमा बढ़ी,
उन्नत शिखर पर चढ़ी ।
निज दृष्टि निज में गड़ी,
धन्यतम है यह घड़ी ।

[illegible] स्व. वयोवृद्ध तपोवृद्ध एवं ज्ञानवृद्ध आचार्य गुरुवर श्री ज्ञानसागर [illegible] श्री के प्रसाद का परिणाम है कि परोक्ष रूप से उन्हीं के अभय चिह्न [illegible] कर-कमलों में जैन गीता का समर्पण करता हुआ .....।

[illegible] चरणारविंदचंचरीक

ॐ शुद्धात्मने नम:

ॐ निरंजनाय नम:

ॐ श्री [illegible] नाथाय नम:

ॐ नि [illegible] नाथाय नम: ।

- आचार्य विद्यासागर

क्रम

१. जैन गीता १-१३३
२. कुंदकुंद का कुंदन १३४-२०९
३. निजामृत पान २१०-२६२
४. द्रव्यसंग्रह (१,२) २६३-२८४
५. अष्टपाहुड़ २८५-३७३
६. नियमसार ३७४-४०७
७. द्वादशानुप्रेक्षा ४०८-४२३
८. समन्तभद्र की भद्रता ४२४-४५९
९. गुणोदय ४६०-५०६
१०. रयणमंजूषा ५०७-५३४
११. आप्त-मीमांसा ५३५-५५५
१२. इष्टोपदेश (१, २) ५५६-५७३
१३. गोमटेश अष्टक ५७४-५७५
१४. कल्याण मंदिर स्तोत्रम ५७६-५८३
१५. नंदीश्वर भक्ति ५८३-५९५
१६. समाधिसुधा शतकम ५९६-६१३
१७. योगसार ६१४-६३२
१८. एकीभाव ६३२-६३६

जैन गीता

जैन गीता

मूल : समणसुत्तं (प्राकृत)

पद्यानुवाद : आचार्य विद्यासागर

जैन गीता

-: मङ्गलसूत्र :-

(वसन्ततिलका छन्द)

हे ! शान्त सन्त अरहन्त अनन्त ज्ञाता,
हे ! शुद्ध बुद्ध शिव सिद्ध अबद्ध धाता ।
आचार्य वर्य उवझाय सुसाधु सिन्धु ?
मैं बार बार तुम पाद पयोज बंदूँ ॥१॥

है मूलमंत्र नवकार सुखी बनाता,
जो भी पढ़े विनय से अघ को मिटाता ।
है आद्य मंगल यही सब मंगलों में,
ध्याओ इसे न भटको जग-जंगलों में ॥२॥

सर्वज्ञदेव अरहन्त परोपकारी,
श्री सिद्ध वन्द्य परमातम निर्विकारी ।
श्री केवली कथित आगम साधु प्यारे,
ये चार मंगल, अमंगल को निवारे ॥३॥

श्री वीतराग अरहन्त कुकर्मनाशी,
श्री सिद्ध शाश्वत सुखी शिवधामवासी ।
श्री केवली कथित आगम साधु प्यारे,
ये चार उत्तम, अनुत्तम शेष सारे ॥४॥

ये बाल भानु सम हैं अरहन्त स्वामी,
लोकाग्र में स्थित सदाशिव सिद्ध नामी ।
श्री केवली कथित आगम साधु प्यारे,
ये चार ही शरण हैं जग में हमारे ॥५॥

जो श्रेष्ठ हैं शरण, मंगल, कर्म जेता,
आराध्य हैं परम हैं शिवपंथ नेता ।
हैं वन्द्य खेचर नरों, असुरों, सुरों के,
वे ध्येय, पंच गुरु हों, हम बालकों के ॥६॥

हे घातिकर्मदल को जिनने नशाया,
विज्ञान पा सुख अतुल्य अनन्त पाया ।
हैं भानु भव्यजनकंज विकासते हैं,
शुद्धात्म की विजय हो अरहन्त वे हैं ॥७॥

कर्त्तव्य था कर लिया, कृतकृत्य दृष्टा,
हैं मुक्त कर्म-तन से निज-द्रव्य-स्रष्टा ।
हैं दूर भी जनन मृत्यु तथा जरा से,
वे सिद्ध सिद्धि सुख दें मुझको जरा से ॥८॥

ज्ञानी, गुणी मतमतान्तरज्ञान धारें,
संवाद से सहज वाद-विवाद टारें ।
जो पालते परम पंच महाव्रतों को,
आचार्य वे सुमति दें हम सेवकों को ॥९॥

अज्ञान रूप-तम में भटके फिरे हैं ?
संसारिजीव हम हैं दुख से घिरे हैं
दो ज्ञान ज्योति उवझाय ! व्यथा हरो ना !!
ज्ञानी बनाकर कृतार्थ हमें करो ना !!! ॥१०॥

अत्यंत शान्त विनयी समदृष्टिवाले,
शोभें प्रशस्त यश से शशि से उजाले ।
हैं वीतराग परमोत्तम शीलवाले,
वे प्राण डालकर साधु मुझे बचालें ॥११॥

अर्हंत अकाय परमेष्ठि विभूतियों के,
आचार्यवर्य, उवझाय, मुनीश्वरों के ।
जो आद्य वर्ण, अ, अ, आ, उ, म को निकालो,
"ओं"कार पूज्य बनता, क्रमशः मिला लो ॥१२॥

आदीश हैं अजित संभव मोक्ष धाम,
वन्दूँ गुणौघ अभिनन्दन हैं ललाम
सद्भाव से सुमति पद्म सुपार्श्व ध्याऊँ
चन्द्रप्रभू चरण से चिति ना चलाऊँ ॥१३॥

श्री पुष्पदन्त शशि-शीतल शील पुंज,
श्रेयांस पूज्य, जगपूजित वासुपूज्य ।
आदर्श से विमल, सन्त अनन्त, धर्म,
मैं शान्ति को नित नमूँ मिलजाय शर्म ॥१४॥

श्री कुन्थुनाथ अरनाथ सुमल्लि स्वामी,
सद्बोध धाम मुनिसुव्रत विश्व नामी ।
आराध्य देव नमि और अरिष्ट नेमी,
श्री "पार्श्व वीर" प्रणमूँ, जिन धर्म प्रेमी ॥१५॥

हे भानु से भास्वर भाग्य कान्त वाले,
जिनके कलालिए शशि से निराले ।
गंभीर वीर निधि से जिन सिद्ध प्यारे,
संसार सागर सुतीर मुझे उतारें ॥१६॥

(२) जिनशासन सूत्र

हो के विलीन जिसमें मन मोद पाते,
हैं भव्यजीव भववारिधि पार जाते ।
श्री जैन शासन रहे जयवन्त प्यारा,
भाई वही शरण, जीवन है हमारा ॥१७॥

पीयूष है, विषय-सौख्य विरेचना है,
पीते सुशीघ्र मिटती चिर वेदना है ।
भाई जरा मरण रोग विनाशती है,
संजीवनी सुखकरी "जिनभारती" है ॥१८॥

जो भी लखा सहज से अरहन्त गाया,
सत् शास्त्र वाद, गणनायक ने बनाया ।
पूजूँ इसे मिल गया श्रुतबोध सिन्धु,
पी, बिन्दु, बिन्दु, दृगबिन्दु समेत वन्दूँ ॥१९॥

प्यारी जिनेन्द्र मुख से निकली सुवाणी,
है दोष की न मिलती जिसमें निशानी ।
ओ ही विशुद्ध परमागम है कहाता,
देखो वहीं सब पदार्थ-यथार्थ-गाथा ॥२०॥

श्रद्धा समेत जिन आगम जो निहारें,
चारित्र भी तदनुसार सदा सुधारें ।
संक्लेश भाव तज निर्मल भाव धारें,
संसारि जीवन परीत बनाय सारे ॥२१॥

हे ! वीतराग ! जगदीश ! कृपा करो तो,
हे विज्ञ, ज्ञान मुझ बालक में भरो तो ।
होऊँ विरक्त तन से, शिव मार्ग गामी,
मैं केवली विमल निर्मल विश्व नामी ॥२२॥

ह ओज तेज झरता मुख से शशी हैं,
गंभीर, धीर गुण आगर हैं वशी हैं ।
वे ही स्वकीय परकीय सुशास्त्र ज्ञाता,
खोलें जिनागम रहस्य सुयोग्य शास्ता ॥२३॥

जो भी हिताहित यहाँ निज के लिए हैं,
वे ही सदैव समझो परके लिए हैं ।
है जैन शासन यही करुणा सिखाता,
सत्ता सभी सदृश हैं सबको दिखाता ॥२४॥

(३) संघ सूत्र

है शीघ्र से सकल कर्म कलंक धोता,
ना दोष धाम वह तो गुण धाम होता ।
हो एकमेक जिससे दृग बोध वृत्त,
जानो सभी सतत "संघ" उसे प्रशस्त ॥२५॥

सम्यक्त्व बोध व्रत को "गण" नित्य मानो,
है "गच्छ" मोक्ष पथ पे चलना सुजानो ।
सत् संघ है गुण जहाँ उभरे हुए हैं,
शुद्धात्म ही समय है, गुरु गा रहे हैं ॥२६॥

आओ यहाँ अभय है भवभीत ! भाई,
धोखा नहीं, न छल, शीतलता सुहाई ।
माता पिता सब समा नहिं भेद नाता,
लो संघ की शरण, सत्य अभेद भाता ॥२७॥

सम्यक्त्व में चरित में अति प्रौढ़ होते,
विज्ञानरूप सर में निजको डुबोते ।
जो संघ में रह स्वजीवन को बिताते,
वे धन्य हैं सफल जीवन को बनाते ॥२८॥

जो भक्ति भाव रखता गुरु में नहीं है,
लज्जा न नेह भय भी गुरु से नहीं है ।
सम्मान गौरव कभी यदि ना करेगा,
ओ व्यर्थ में गुरुकुली बन क्या करेगा ? ॥२९॥

भाई अलिप्त सहसा विधि नीर से है,
उत्फुल्ल भी जिनप सूर्य प्रकाश से है ।
सागार भव्य अलि आ गुण गा रहे हैं ?
गातें जहाँ प्रगुण केसर पी रहे हैं ॥३०॥

भाती जहाँ वह महाव्रत कर्णिका है,
ना नाप भी श्रुतमयी-सुमृणालका है ।
घेरे हुए श्रमणरूप सहस्र-पत्र,
ओ ''संघ पद्म'' जयवन्त रहे पवित्र ॥३१॥

(४) निरूपण सूत्र

निक्षेप और नय, पूर्ण प्रमाण द्वारा,
ना अर्थ को समझता यदि जो सुचारा ।
तो सत्य तथ्य विपरीत प्रतीत होता,
होता असत्य सब सत्य, उसे डुबोता ॥३२॥

निक्षेप है वह उपाय सुजानने का,
होता वही नय निजाशय ज्ञानियों का ।
तू ज्ञान को समझ सत्य प्रमाण भाई,
यों युक्ति पूर्वक पदार्थ लखें, भलाई ॥३३॥

दो मूल में नय सुनिश्चय, औ व्यावहार,
विस्तार शेष इनका करता प्रचार ।
पर्याय-द्रव्य नय हैं नय दो नयों में,
होते सहायक सुनिश्चय साधने में ॥३४॥

धारें अनन्त गुण यद्यपि द्रव्य सारे,
तो भी ''सुनिश्चय'' अखंड उन्हें निहारे ।
पै खंड, खंड कर द्रव्य अखंड को भी,
लखे कथंचित यहाँ ''व्यवहार'' सो ही ॥३५॥

विज्ञान औ चरित, दर्शन विज्ञ के हैं,
जाते कहें, सकल वे व्यवहार से हैं ।
ज्ञानी परन्तु वह ज्ञायक शुद्ध प्यारा,
ऐसा नितान्त नय निश्चय ने निहारा ॥३६॥

है नित्य निश्चय निषेधक, मोक्ष दाता,
होता निषिद्ध व्यवहार नहीं सुहाता ।
लेते सुनिश्चय नयाश्रय संत योगी,
निर्वाण प्राप्त करते, तज भोग भोगी ! ॥३७॥

बोलो न आंग्ल नर से यदि आंग्ल भाषा,
कैसे उसे सदुपदेश मिले प्रकाशा ?
सत्यार्थ को न व्यवहार बिना बताया
जाता सुबोध शिशु में गुरु से जगाया ॥३८॥

भूतार्थ शुद्ध नय है निजको दिखाता,
भूतार्थ है न व्यवहार, हमें भुलाता ।
भूतार्थ की शरण लेकर जीव होता ।
सम्यक्त्वभूषित, वही मन मैल धोता ॥३९॥

जाने नहीं कि वह निश्चय चीज क्या है
हैं मानते सकल बाह्य क्रिया वृथा है ।
वे मूढ़ नित्य रट निश्चय की लगाते
चारित्र नष्ट करते, भवको बढ़ाते ॥४०॥

शुद्धात्म में निरत हो जब सन्त त्यागी,
जीवें विशुद्ध नय आश्रय ले विरागी ।
शुद्धात्म से च्युत, सराग चरित्र वाले
भूले न लक्ष्य व्यवहार अभी संभाले ॥४१॥

हैं कौन से श्रमण के परिणाम कैसे,
कोई पता नहिं बता सकता कि ऐसे ।
तल्लीन हों यदि महाव्रत पालने में
वे वन्द्य हैं नित नमूँ व्यवहार से मैं ॥४२॥

वे ही मृषा नय, करें पर की उपेक्षा,
एकान्त से स्वयं की रखते अपेक्षा ।
सच्चे सदैव नय वे पर को निभालें ।
बोले परस्पर मिलें व गले लगालें ॥४३॥

''उत्सर्ग मार्ग'' निजमें निजका विहारा,
शास्त्रादि साधन रखो अपवाद न्यारा ।
ज्ञानादि कार्य इनसे बनते सुचारा,
धारो यथोचित इन्हें सुख हो अपारा ॥४४॥

(५) संसार चक्र सूत्र

संसार शाश्वत नहीं ध्रुव है न भाई,
पाऊँ निरन्तर यहाँ दुख, ना भलाई ।
तो कौन सी विधि विधान सुयुक्तियाँ रे !
छूटें जिसे कि मम दुर्गति पंक्तियाँ रे ! ॥४५॥

ये भोग काम, मधु लिप्त कृपाण से हैं,
देते सदा दुख सुमेरु-प्रमाण से हैं ।
संसार पक्ष रखते, सुख के विरोधी,
है पाप धाम, इनसे मिलती न बोधी ॥४६॥

भोगे गये विषय ये बहुबार सारे,
पाया न सार इनमें, मनको विदारें ।
रे ! छान बीन करलो तुम बार बार,
निस्सार भूत कदली करु में न सार ॥४७॥

प्रारंभ में अमृत सी सुख शान्ति कारी,
दें अन्त में अमित दारुण दुःख भारी ।
भूपाल-इन्द्रपदवी सुर सम्पदायें ।
छोड़ो इन्हें विषम ये दुख आपदायें ॥४८॥

ज्यों तीव्र खाज चलती खुजली खुजाते,
रोगी तथापि दुख को सुख ही बताते ।
मोहाभिभूत मतिहीन मनुष्य सारे,
त्यों काम जन्य दुख को सुख ही पुकारें ॥४९॥

संभोग में निरत, सन्मति से परे हैं,
जो दुःख को सुख गिने, भ्रम में परे हैं ।
वे मूढ़ कर्म-मल में फसते तथा हैं,
मक्खी गिरी तड़पती कफ में यथा है ॥५०॥

हो वेदना जनन मृत्यु तथा जरा से,
ऐसा सभी समझते, सहसा सदा से ।
तो भी मिटी विषय लोलुपता नहीं है,
मायामयी सुदृढ़ गांठ खुली नहीं है ॥५१॥

संसारिजीव जितने फिरते यहाँ हैं,
वे राग रोष करते दिखते सदा हैं ।
दुष्टाष्ट कर्म जिससे अनिवार्य पाते,
हैं कर्म के वहन से गति चार पाते ॥५२॥

पाते गती, महल-देह उन्हें मिलेगी,
वे इन्द्रियाँ खिड़कियाँ जिसमें खुलेगीं ।
होगा पुनः विषय सेवन इन्द्रियों से,
रागादिभाव फिर हो जग-जन्तुओं से ॥५३॥

मिथ्यात्व के वश अनादि अनन्त मानो,
सम्यक्त्व के वश अनादि सुसान्त जानों ।
संसारिजीव इस भांति विभाव धारें,
वे धन्य हैं तज इन्हें शिव को पधारें ॥५४॥

लो ! जन्मसे, नियम से दुख जन्म लेते,
मारी जरा मरण भी अति दुःख देतें
संसार ही ठसठसा दुख से भरा है,
पीड़ा चराचर सहें सुख ना जरा है ॥५५॥

(६) कर्म-सूत्र

जो भी जहाँ जब जभी जिस भांति भाता,
विज्ञान में तब तभी उस भांति आता ।
जो अन्यथा समझता करता बताता ।
कुज्ञान ही वह, सदा सबको सताता ॥५६॥

रागादि भाव करता जब जीव जैसे,
तो कर्म बन्धन विना बच जाय कैसे ? ।
भाई ! शुभाशुभ विभाव कुकर्म आते,
हैं जीव संग बँधते, तब वे सताते ॥५७॥

जो काय से वचनसे मद मत्त होता,
लक्ष्मी धनार्थ निज जीवन पूर्ण खोता ।
त्यों राग रोष वश ही वसु कर्म पाता,
ज्यों सर्प, जो कि द्विमुखी, मृण नित्य खाता ॥५८॥

माता पिता सुत सुतादिक साथ देते ?
आपत्ति में, न सब वे दुख बाँट लेते ।
जो भोगता करमको करता अकेला,
औचित्य कर्म बनता उसका सुचेला ॥५९॥

हैं बन्ध के समय जीव स्वतंत्र होते,
हो कर्म के उदय में परतंत्र रोते ।
जैसे मनुष्य तरुपे चढ़ते अनूठे,
पानी गिरा, गिर गये जब हाथ छूटे ॥६०॥

हा ! जीव को "सबल" कर्म कभी सताता,
ना कर्म को सहज जीव कभी दबाता ।
होता धनी धन अरे ! जब निर्धनी को,
होता धनी, ऋण ऋणी जब दे धनी को ॥६१॥

सामान्य से करम एक, नहीं द्विधा है,
है द्रव्य कर्म जड़, चेतन से जुदा है ।
जो कर्म शक्ति अथवा रति-शेष-भाव,
है भावकर्म जिससे करतो बचाव ॥६२॥

शुभोपयोग मय भावम को निहारें,
वे पाप भावमयी मन मार डारें ।
ना कर्म रज कण कभी चिपके कदापि,
ना तब धारण करें फिर से अपापी ॥६३॥

ना ज्ञान आवरण से सब जानना हो,
ना दर्शनावरण से सब देखना हो ।
है वेदनीय सुख दुःख हमें दिलाता,
है मोहनीय उलटा जग को दिखाता ॥६४॥

ना आयु के उदय में, तन जेल छूटे,
है नाम कर्म रचता, बहुरूप झूठे ।
है उच्च-नीच पददायक गोत्र कर्म,
संक्षेप से समझलो तुम अष्ट कर्म,
सद्धर्म से सब सधे शिव-शांति शर्म ॥६५॥

होती इन्हीं सम सदा वसु कर्म चाल,
कर्मानुसार समझो, पट, द्वारपाल
औ खड्ग, मद्य, हलि, मौलिक चित्रकार,
है कुम्भकार क्रमशः वसु कोष पाल ॥६६॥

(७) मिथ्यात्व सूत्र

संमोह से भ्रमित है मन मत्त मेरा,
है दीखता सुख नहीं, परितः अँधेरा ।
स्वामी रुका न अबलौं गति चार फेरा,
मेरा अतः नहिं हुवा शिव में बसेरा ॥६७॥

मिथ्यात्व के उदय से मति भ्रष्ट होती,
ना धर्म कर्म रुचता, मिट जाय ज्योति ।
पीयूष भी परम-पावन-पेय-प्याला,
अच्छा लगे न ज्वर में बन जाय हाला ॥६८॥

मिथ्यात्व से भ्रमित पीकर मोह प्याला,
ज्वालामुखी तरह तीव्र कषाय वाला ।
माने न चेतन अचेतन को जुदा जो,
होता नितान्त बहिरातम है मुधाओ ॥६९॥

तत्वानुकूल यदि जो चलता नहीं है,
मिथ्यात्व चीज इससे बढ़ कौनसी है ।
कर्त्तव्य मूढ़, परको वह है बनाता,
मिथ्यात्व को सघन रूप तभी दिलाता ॥७०॥

(८) रागपरिहार सूत्र

ह कर्म के विषम बीज सराग रोष,
संमोह से करम हो बहुदोष कोष ।
तो कर्म से जनन मृत्यु तथा जरा हो
ये दुःख मूल, इनकी कब निर्जरा हो ? ॥७१॥

हो क्रूर, शूर, मशहूर, जरूर बैरी,
हानी तथापि उससे उतनी न तेरी ।
ये राग रोष तुझको जितनी व्यथा दें
कोई न दें, अब इन्हें दुख दे, मिटा दे ॥७२॥

संसार सागर असार अपार खारा,
संसारि को सुख यहाँ न मिला लगारा ।
प्राप्तव्य है परम पावन मोक्ष प्यारा ।
ना जन्म मृत्यु जिसमें सुख का न पारा ॥७३॥

चाहो सुनिश्चय भवोदधि पार जाना,
चाहो नहीं यदि यहाँ अब दुःख पाना ।
धोखा न दो स्वयम को टलजाय मौका,
बैठो सुशीघ्र तप संयम रूप नौका ॥७४॥

सम्यक्त्वरूप गुण को सहसा मिटाते,
चारित्ररूप पथ से बुध को डिगाते ।
ये पाप ताप मय हैं रति राग रोष,
हो जा सुदूर इन से, मिल जाय तोष ॥७५॥

भोगाभिलाष वश ही बस भोगियों को,
होता असह्य दुख है सुर-मानवों को ।
ना साधु मानसिक कायिक दुःख पाते,
वे वीतराग बन जीवन हैं बिताते ॥७६॥

वैराग्य भाव जगता जिस भाव से है ?
ओ कार्य आर्य करते, अविलम्ब से हैं
जो है विरक्त तन से भव पार जाते,
आसक्त भोगतन में भव को बढ़ाते ॥७७॥

हैं राग रोष दुख, पै न पदार्थ सारे,
वे बार बार मन में बुधयों विचारें ।
तृष्णा अत: विषयकी पड़ मंद जाती,
जाती विमोह ममता, समता सुहाती ॥७८॥

मैं शुद्ध चेतन अचेतन से निराला,
ऐसा सदैव कहता सम दृष्टिवाला ।
रे ! देह नेह करना अति दु:ख पाना,
छोड़ो उसे तुम, यही गुरुका बताना ॥७९॥

मोक्षार्थ ही दमन हो सब इन्द्रियों का,
वैराग्य से शमन क्रोध कषायियों का ।
हो कर्म आगमन-द्वार नितान्त बन्द,
शुद्धात्म को नमन हो, नहिं कर्म बन्ध ॥८०॥

ज्यों शोभता जलज जो जलसे निराला,
त्यों वीतराग मुनि भी तनसे खुशाला ।
होता विरक्त, भवमें रहता यहीं है,
रंगीन में न रचता पचता नहीं है ॥८१॥

(९) धर्म सूत्र

पाता सदैव तप संयम से प्रशंसा,
ओ धर्म मंगलमयी जिसमें अहिंसा ।
जो भी विनय से उर में बिठाते,
सानन्द देव तक भी उनको पुजाते ॥८२॥

है वस्तु का धरम तो उसका स्वभाव,
सच्ची क्षमादिदशलक्षण धर्म-नाव ।
ज्ञानादि रत्नत्रय धर्म, सुखी बनाता,
है विश्व कर्म त्रस थावर प्राणि त्राता ॥८३॥

प्यारी क्षमा, मृदुलता ऋजुता सचाई,
औ शौच्य संयम धरो, तपसे भलाई ॥
त्यागो परिग्रह, अकिंचन गीत गा लो,
लो ! ब्रह्मचर्य सर में डुबकी लगा लो ॥८४॥

हो जाय घोर उपसर्ग नरों सुरों से,
या खेचरों पशुगणों जन दानवों से ।
उद्दीप्त हो न उठती यदि क्रोध ज्वाला,
मानो उसे तुम क्षमामृत पेय प्याला ॥८५॥

प्रत्येककाल सबको करता क्षमा मैं,
सारे क्षमा मुझ करे नित मांगता मैं ।
मैत्री रहे जगत के प्रति नित्य मेरी,
हो वैर भाव किससे ? जब हैं न वैरी ॥८६॥

मैंने प्रमाद वश दु:ख तुम्हें दिया हो,
किंवा कभी यदि अनादर भी किया हो ।
ना शल्य मान मन में रखता मुधा मैं,
हूँ माँगता विनय से तुमसे क्षमा मैं ॥८७॥

हूँ श्रेष्ठ जाति कुल में श्रुत में यशस्वी,
ज्ञानी, सुशील, अति सुन्दर हूँ तपस्वी ।
ऐसा नहीं श्रमण हो, मन मान लाते,
निर्भ्रान्त वे परम मार्दव धर्म पाते ॥८८॥

देता न दोष परको, गुण ढूढ़ लेता,
निन्दा करे स्वयम की, मन अक्ष जेता ।
मानी वही नियम से गुण धाम ज्ञानी,
कोई कभी गुण बिना बनता न मानी ॥८९॥

सर्वोच्च गोत्र हमने बहुबार पाया,
पा, नीच गोत्र, दुख जीवन है बिताया ।
मैं उच्च की इसलिए करता न इच्छा,
स्थाई नहीं क्षणिक चंचल उच्च नीचा ॥९०॥

आचार में वचन में व विचार में भी,
जो धारता कुटिलता नहिं स्वप्न में भी ।
योगी वही सहज आर्जव धर्म पाता,
ज्ञानी कदापि निज दोष नहीं छिपाता ॥९१॥

मिश्री मिले, वचन वे रुचते सभी को,
संताप हो श्रवण से न कभी किसी को ।
कल्याण हो स्वपर का मुनि बोलता है,
हो सत्य धर्म उसका, दृग खोलता है ॥९२॥

हो चोर चौर्य करता विषयाभिलाषी,
पाता त्रिकाल दुख हाय असत्य भाषी ।
देखो जभी दुखित ही वह है दिखाता,
सत्यावलम्बन सदीव सुखी बनाता ॥९३॥

साधर्मि के वचन आज नहीं सुहाते,
हैं पथ्यरूप, फलतः कटु दीख पाते ।
पीते अतीव कड़वी लगती दवाई,
नीरोगता फल मिले, मति मुस्कुराई ॥९४॥

विश्वास पात्र जननी सम सत्यवादी,
हो पूजनीय गुरु सादृश अप्रमादी ।
वे विश्व को स्वजन भाँति सदा सुहाते,
वन्दूँ उन्हें सतत् मैं शिरको झुकाते ॥९५॥

ज्ञानादि मौलिक सभी गुण वे अनेकों,
हैं सत्य में निहित संयम शील देखो !
आवास ज्यों जलाधि जलजीवियों का ।
त्यों सत्य धर्म जग में सब सद्गुणों का ॥९६॥

ज्यों ज्यों विकास धनका क्रमशः चलेगा,
त्यों त्यों प्रलोभ बढ़ता, बढ़ता, बढ़ेगा ।
संपन्न कार्य कण से जब जो कि पूरा,
होता वही न मन से रहता अधूरा ॥९७॥

पा सकता कनक निर्मित पर्वतों को,
होगी न तृप्ति फिर भी तुम लोभियों को ।
आकाश है यह अनन्त, अनन्त आशा
आशा मिटे, सहज हो परितः प्रकाशा ॥९८॥

त्यों मोह से जनम, तामस लोभ का हो,
या लोभ से दुरित कारण, मोहका हो ।
ज्यों वृक्ष ओ ! उपजता उस बीज से है,
या बीज जो उपजता इस वृक्ष से है ॥९९॥

संतोष धार, समता जल से विरागी,
धोते प्रलोभ मलको बुध सन्त त्यागी ।
लिप्सा नहीं अशन में रखते कदापि,
हो शौच्य धर्म उनका, तज पाप पापी ! ॥१००॥

जो पालना समिति, इन्द्रिय जीतना है,
है योग रोध करना, व्रत धारना है ।
सारी कषाय तजना मन मारना है,
भाई वही सकल संयम साधना है ॥१०१॥

फोड़ा कषाय घटको, मन को मरोड़ा,
है योगि ने विषय को विष मान छोड़ा ।
स्वाध्याय ध्यान बल से निजको निहारा,
पाया नितान्त उसने तप धर्म प्यारा ॥१०२॥

वैराग्य धार भव भोग शरीर से ओ !
देखा स्वको यदि सुदूर विमोह से हो ।
तो त्याग धर्म समझो उनने लिया है,
संदेश यों जगत को प्रभु ने दिया है ॥१०३॥

भोगोपभोग मिलने पर भी कदापि,
जो भोगता न उनको बनता न पापी ।
त्यागी वही नियम से जग में कहाता,
भोगी न भोग तजता, भवयोग पाता ॥१०४॥

जो अंतरंग बहिरंग निसंग नंगा,
होता दुखी नहिं सुखी, बस नित्य चंगा ।
भाई ! वही वर अकिंचन धर्म पाता,
पाता स्वकीय सुखको, अघ को खपाता ॥१०५॥

हूँ शुद्ध पूर्ण दृग बोध मयी सुधा से,
मैं एक हूँ पृथक हूँ सब से सदा से ।
मेरा न और कुछ है नित मैं अरूपी ।
मेरी नहीं जड़मयी यह देह रूपी ॥१०६॥

मैं हूँ सुखी रह रहा सुख से अकेला,
मेरा न और कुछ है गुरु भी न चेला ।
उद्दीप्त हो यदि जले मिथिला यहाँ रे !
बोले "नमी" कि उससे मम हानि क्या रे ॥१०७॥

निस्सार जान जिनने व्यवहार सारा,
छोड़ा, रखा न कुछ भी कुल पुत्र दारा ।
ऐसा कहें सतत वे सब सन्त सच्चे,
कोई पदार्थ जगमें न बुरे न अच्छे ॥१०८॥

ज्यों पद्म जो जलज हो, जलसे निराला,
ओं ना गले, नहिं सड़े रहता निहाला ।
त्यों भोग में न रचता पचता नहीं है,
है वंद्य ब्राह्मण यहाँ जग में वही है ॥१०९॥

ना मोह भाव जिसमें दुख को मिटाया,
तृष्णा विहीन मुनि, मोहन को नशाया ।
तृष्णा विनष्ट उससे यति जो न लोभी,
हो लोभ नष्ट उससे बिन संग जो भी ॥११०॥

जो देह नेह तजता निज ध्यान धारी,
है ब्रह्मचर्य उसकी वह वृत्ति सारी ।
है जीव ही परम ब्रह्म सदा कहाता,
है बार बार उसको शिर मैं नवाता ॥१११॥

चंद्रानना, मृगदृगी, मृदुहासवाली,
लीलावती, ललितये ललना निराली ।
देखो इन्हें, पर कभी न बनो विकारी,
मानो तभी कि "हम" है सब ब्रह्मचारी ॥११२॥

संसर्ग पा अनल का झट लाख जैसा,
स्त्री संग से पिघलता अनगार वैसा ।
योगी रहे इसलिए उनसे सुदूर,
एकान्त में विपिन में निजमें जरूर ॥११३॥

कामेन्द्रिका दमन रे ! जिसने किया है,
कोई नहीं अब उसे कठिनाइयां हैं ।
जो धैर्य से अमित सागर पार पाता,
क्या शीघ्र से न सरिता वह तैर जाता ? ॥११४॥

नारी रहो, नर रहो जब शील धारी,
स्त्री से बचे नर, बचे नर से सुनारी ।
स्त्री आग है, पुरुष है नवनीत भाई,
उद्दीप्त एक, पिघले, मिलते बुराई ॥११५॥

होती सुशोभित तथापि सुनारि जाति,
फैली दिगन्त तक है जिन-शील ख्याति ।
ये हैं पवित्र धरती पर देवतायें,
पूजें इन्हें नित सुरासुर अप्सरायें ॥११६॥

कामाग्नि से जल रहा त्रयलोक सारा,
देखो जहाँ विषय की लपटें अपारा ।
वे धन्य हैं यदपि पूर्ण युवा बने हैं,
सत् शील से लस रहे निजमें रमें हैं ॥११७॥

जो एक, एक कर रात व्यतीत होती,
आती न लौट, जनता रह जाय रोती ।
मोही अधर्मरत है, उसकी निशायें,
जातीं वृथा दुखद हैं उलटी दिशायें ॥११८॥

ले द्रव्य को वनिक तीन चले कमानें,
जाके बसे शहर में खुलती दुकानें ।
है विज्ञ एक उनमें धन को बढ़ाता,
है एक मूल धन लेकर लौट आता ॥११९॥

ओ मूढ़ मूल धन को जिसने गंवाया,
सारा गया विथत हाय ! किया कराया ।
ऐसा हि कार्य अबलौं हमने किया है,
सद्धर्म पा उचित कार्य कहाँ किया है ? ॥१२०॥

आत्मा स्वरूप रत आतम को जनाता,
शुद्धात्मरूप निज साक्षिक धर्म भाता ।
आत्मा उसी तरह से उसको निभावें,
शीघ्रातिशीघ्र जिससे सुख पास आवे ॥१२१॥

(१०) संयम सूत्र

आत्मा मदीय दुखदा तरु शाल्मली है,
दाहात्मिका-विषम-वैतरणी नदी है ।
आत्मा सुनंदनवनी मनमोहिनी है,
है कामधेनु सुखदा दुख-हारिणी है ॥१२२॥

आत्मा हि दुःख सुख रूप विभावकर्त्ता,
होता वही इसलिए उनका प्रभोक्ता ।
आत्मा अनात्म रत ही रिपु है हमारा,
तल्लीन हो स्वयम में तब मित्र प्यारा ॥१२३॥

आत्मा मदीय रिपु है बन जाय स्वैरी,
स्वच्छन्द इन्द्रिय-कषाय-निकाय बैरी ।
जीतूँ उन्हें निजनियंत्रण में रखूँ मैं,
धर्मानुसार चल के निज को लखूँ मैं ॥१२४॥

जीते भले हि रिपु को रण में प्रतापी,
मानो उसे न विजयी, वह विश्वतापी ।
रे ! शूर वीर विजयी जग में वही है,
जो जीतता स्वयम को बनता सुखी है ॥१२५॥

जीतो भले हि पर को, पर क्या मिलेगा ?
पूछूँ तुम्हें दुरित क्या उससे टलेगा ?
भाई लड़ो स्वयम से मत दूसरों से,
छूटो सभी सहज से भव बंधनो से ॥१२६॥

अत्यंत ही कठिन जो निज जीतना है,
कर्त्तव्य मान उस को बस साधना है ।
जो जी रहा जगत में बन आत्म जेता,
सर्वत्र दिव्य सुख का वह लाभ लेता ॥१२७॥

औचित्य है न परके वध बंधनों से,
मैं हो रहा दमित, जो कि युगों युगों से ।
होगा यही उचित, संयम योग धारूँ,
विश्वास है, स्वयम पे जय शीघ्र पाऊँ ॥१२८॥

हो एक से विरति तो रति एक से हो,
प्रत्येक काल सब कार्य विवेक से हो ।
ले लो अभी तुम असंयम से निवृत्ति,
सारे करो सतत सयंम में प्रवृत्ति ॥१२९॥

हैं राग रोष अघ कोष नही सुहाते,
ये पाप कर्म, सब से सहसा कराते ।
योगी इन्हें तज, जभी निज धाम जाते,
आते न लौट भव में, सुख चैन पाते ॥१३०॥

लो, ज्ञान ध्यान तप संयम साधनों को,
हे साधु ! इन्द्रिय-कषाय निकाय रोको ।
घोड़ा कदापि रुकता न बिना लगाम,
त्यों ही लगाम लगता, बनता गुलाम ॥१३१॥

चारित्र में जिन समान बने उजाले,
वे वीतराग, उपशान्त कषाय वाले ।
नीचे, कषाय उनको जब है गिराती,
ला हंसराग, फिर क्या न उन्हें नचाती ? ॥१३२॥

हा ! साधु भी समुपशान्त कषाय वाला,
होता कषाय वश मंद विशुद्धि वाला ।
विश्वास भाजन कषाय अतः नहीं है,
जो आ रही उदय में अथवा दबी है ॥१३३॥

थोड़ा रहा ऋण, रहा व्रण मात्र छोटा,
है राग, आग लघु यों कहना हि खोटा ।
विश्वास क्योंकि इनपे रखना बुरा है,
देते सुशीघ्र बढ़ के दुख मर्मरा हैं ॥१३४॥

ना क्रोध के निकट "प्रेम" कदापि जाता,
है मान से विनय शीघ्र विनाश पाता ।
माया विनष्ट करती जग मित्रता को,
आशा विनष्ट करती सब सभ्यता को ॥१३५॥

ा हटाता,
मिटाता ।
ग्रही है,
है ॥१४२॥

नाशकारी,
ति भारी ।
यियाँ हैं,
हैं ॥१४३॥

अपारराशि,
स दासी ।
कयां रे ।
रे ॥१४४॥

न्त चंगा,
नंगा ।
ति योगी,
गी ॥१४५॥

न आता,
न पाता ।
न्द्रियां रे !
रे ॥१४६॥

क्रोधाग्नि का शमन शीघ्र करो क्षमा से,
रे ! मान मर्दन करो तुम नम्रता से ।
धारो विशुद्ध ऋजुता मिट जाय माया,
संतोष में रति करो, तज लोभ जाया ॥१३६॥

ज्यों देह में सकल अंग उपांगकों को,
लेता समेट कछवा, लख संकटों को ।
मेधावि लोग अपनी सब इन्द्रियों को,
लेते समेंट निजमें भजते गुणों को ॥१३७॥

अज्ञान मान वश दी कुछ ना दिखाई,
मानो, अनर्थ घटना घट जाय भाई ।
सद्य: उसी समय ही उसको मिटाओ,
आगे कदापि फिर ना तुम भूल पाओ ॥१३८॥

जो धीर धर्म रथ को रुचि से चलाता,
है ब्रह्मचर्य सर में डुबकी लगाता ।
आराम-धर्ममय जो जिसको सुहाता,
धर्मानुकूल विचरें मुनि मोद पाता ॥१३९॥

(११) अपरिग्रह सूत्र

जो भी परिग्रह रखें विषयाभिलाषी,
वे चोर हिंसक कुशील असत्य भाषी ।
संसार की "जड़" परिग्रह को बताया,
यों संग को जिनप ने मन से हटाया ॥१४०॥

जो मूढ़ ले परम संयम से उदासी,
धारे धनादिक परिग्रह दास दासी ।
अत्यन्त दु:ख सहता भव में डुलेगा,
तो मुक्ति द्वार अवरुद्ध नहीं खुलेगा ॥१४१॥

जो चित्त से जब परिग्रह को हटाता,
है बाह्य के सब परिग्रह को मिटाता ।
है वीतराग समधी अपरिग्रही है,
देखा स्वकीय पथ को मुनि ने सही है ॥१४२॥

मिथ्यात्व, वेदत्रय, हास्य विनाशकारी,
ग्लानी, रती, अरति, शोक, कुभीति भारी ।
ये नोकषाय, नव, चार कषायियाँ हैं,
यों भीतरी जहर चौदह ग्रंथियां हैं ॥१४३॥

ये खेत, धाम, धन धान्य अपारराशि,
शय्या, विमान, पशु, बर्तन, दास दासी ।
नाना प्रकार पट, आसन पंक्तियां रे ।
ये बाहरी जड़मयी दस ग्रंथियां रे ॥१४४॥

अत्यंत शांत गत कान्त नितान्त चंगा,
हो अंतरंग, बहिरंग, निसंग, नंगा ।
होता सुखी सतत है जिस भांति योगी,
चक्री कहाँ वह सुखी उस भांति भोगी ॥१४५॥

ज्यों नाग अंकुश बिना वश में न आता,
खाई बिना नगर रक्षण हो न पाता ।
त्यों संग त्याग बिन ही सब इन्द्रियां रे !
आती कभी न वश में, तज ग्रंथियां रे ॥१४६॥

(१२) अहिंसा सूत्र

ज्ञानी तभी तुम सभी सहसा बनोगे,
संपूर्ण प्राणिवध को जब छोड़ दोगे ।
है साम्य धर्म वह है जिसमें न हिंसा,
विज्ञान संभव कभी न, बिना अहिंसा ॥१४७॥

हैं चाहते जबकि ये जग जीव जीना,
होगा अभीष्ट किसको फिर मृत्यु पाना ?
यों जान, प्राणिवध को मुनि शीघ्र त्यागें,
निर्ग्रंथ रूप धरके, दिन रैन जागें ॥१४८॥

हे जीव ! जीव जितने जग जी रहें हैं,
विख्यात वे सब चराचर नाम से हैं ।
निर्ग्रंथ साधु बन, जान अजान में ये,
मारे कभी न उनको, न कभी मरायें ॥१४९॥

जैसा तुम्हें दुख कदापि नहीं सुहाता,
वैसा अभीष्ट परको दुख हो न पाता ।
जानो उन्हें निज समान, दया दिखाओ,
सम्मान मान उनको मन से दिलाओ ॥१५०॥

जो अन्य जीव वध है वध ओ निजी है,
भाई यही परदया, स्वदया रही है ।
साधू स्वकीय हितको जब चाहते हैं,
वे सर्व जीव वध निश्चित त्यागते हैं ॥१५१॥

तू है जिसे समझता वध योग्य बैरी,
तू ही रहा "वह" अरे ! यह भूल तेरी ।
तू नित्य सेवक जिसे बस मानता है,
तू ही रहा "वह" जिसे नहिं जानता है ॥१५२॥

रागादि भाव उठना वह भाव हिंसा,
हा ! अभाव उनका समझो अहिंसा ।
जीवाश्रय पूज्य जिनने हम को बताया,
कर्तव्य मान निजकार्य किया कराया ॥१५३॥

काई मरो मत मरो नहिं बंध नाता,
रागादिभाव वश ही द्रुत कर्म आता ।
आगमानुसार नय निश्चय नित्य गाता,
यों कर्म-बन्ध-विधि है, हमको बताता ॥१५४॥

जो एक हिंसक तथैक असंयमी है,
काई न भेद उनमें कहते यमी हैं ।
हिंसा निरंतर नितान्त बनी रहेगी,
भाई जहाँ जब प्रमाद-दशा रहेगी ॥१५५॥

हिंसा नहीं, पर उपास्य बने अहिंसा,
ज्ञानी करें सतत ही जिस की प्रशंसा ।
ले लक्ष कर्म क्षयका बन सत्यवादी,
होता अहिंसक वही मुनि अप्रमादी ॥१५६॥

हिंसा मदीय यह आतम ही अहिंसा,
सिद्धान्त के वचन ये करलो प्रशंसा ।
ज्ञानी अहिंसक वही मुनि अप्रमादी,
हा ! सिंह से अधिक हिंसक हो प्रमादी ॥१५७॥

उत्तुंग मेरु गिरि सा गिरि कौन सा है ?
निर्व्योम कौन जग में इस व्योम सा है ?
काई नहीं परम धर्म बिना अहिंसा,
धारो इसे विनय से तज सर्व हिंसा ॥१५८॥

देता तुझे अभय पार्थिव शिष्य प्यारा,
तू भी सदा अभय दे जग को सहारा ।
क्या मान तू कर रहा दिन रैन हिंसा !!
संसार तो क्षणिक है भजले अहिंसा ॥१५९॥

(१३) अप्रमाद सूत्र

पाया इसे न अबलौ इसको न पाना,
मैंने इसे कर लिया, न इसे कराना ।
ऐसा प्रमाद करते नहिं सोचना है,
आ जाय काल कब ओ नहिं सूचना है ॥१६०॥

संसार में कुछ न सार असार सारे,
हैं सारभूत समतादिक-द्रव्य प्यारे ।
सोये हुए पुरुष ये बस सर्व खोते,
जो जागते सहज से विधि पंक धोते ॥१६१॥

सोना हि उत्तम अधार्मिक दुर्जनों का,
है श्रेष्ठ ''जागरण'' धार्मिक सज्जनों का ।
यों वत्सदेश नृप की अनुजा ''जयन्ती''
वाणी सुनी जिनप की वह शीलवन्ती ॥१६२॥

सोया हुवा जगत में बुध नित्य जागे,
जागे प्रबोध उर में सब पाप त्यागे ।
है काल ''काल'' तन निर्बल ना विवाद,
भेरण्ड से तुम अत: तज दो प्रमाद ॥१६३॥

धाता अनेकविध आस्रव का प्रमाद,
लाता सहर्ष वर संवर अप्रमाद ।
ना हो प्रमाद तब पण्डित मोह-जेता
होता प्रमाद वश मानव मूढ़नेता ॥१६४॥

ज्ञानी प्रवृत्ति करते नहिं कर्म खोते,
ज्ञानी निवृत्ति गहते, मन मैल धोते ।
धीमान धीर धरते, धरते न लोभ,
ना पाप ताप करते करते न क्षोभ ॥१६५॥

ज्ञानी प्रमत्त बनते, भयभीत होते,
खोते स्वकीय पदको दिन रैन रोते ।
योगी करे न भयको बन अप्रमत्त,
हो मस्त व्यस्त निजमें निज-दत्त चित्त ॥१६६॥

ज्ञानी ममत्व रखता न विराग होता,
विद्या उसे न मिलती दिन रैन सोता ।
कैसे मिले सुख उसे जब आलसी है,
कैसे बने ''सदय'' हिंसक तामसी है ॥१६७॥

भाई सदैव यदि जागृत तू रहेगा,
तेरा प्रबोध बढ़ता बढ़ता बढ़ेगा ।
वे धन्य हैं सतत जाग्रत जी रहे हैं,
जो सो रहे अधम हैं विषयी रहे हैं ॥१६८॥

हो देख, भाल चलता उठता, उठाता-
शास्त्रादि वस्तु रखता, तनको सुलाता ।
हो त्यागता मल, चराचर को बचाता,
योगी अहिंसक दयालु वही कहाता ॥१६९॥

(१४) शिक्षा सूत्र

पाते नहीं अविनयी सुख सम्पदायें,
पा ज्ञान गौरव सुखी विनयी सदा ये ।
जानो यही अविनयी-विनयी समीक्षा
ज्ञानी बनो सहज, पाकर उच्च शिक्षा ॥१७०॥

मिथ्याभिमान करना, मनक्रोध लाना,
पाना प्रमाद, तनमें कुछ रोग आना ।
आलस्यकानुभव, ये जब पंच होते
शिक्षा मिले न हम बालक सर्व रोते ॥१७१॥

आलस्य हास्य मनरंजन त्याग देना,
होना सुशील, मन-इन्द्रिय जीत लेना
क्रोधी कभी न बनना, बनना न दोषी,
ना भूलना विषय में न असत्य-पोषी ॥१७२॥

भाई कदापि बनना न रहस्य भेदी,
ऐसा सदैव कहते गुरु आत्म वेदी ।
आजाय आठ गुण जीवन में किसी के,
विद्या निवास करती मुख में उसी के ॥१७३॥

सिद्धान्त के मनन से मन-हाथ आता,
विज्ञान भानु उगता, तमको मिटाता ।
जो धर्म निष्ठ बनता, परको बनाता,
सद्बोध रूप सरमें डुबकी लगाता ॥१७४॥

संसार को प्रिय लगे प्रिय बोल बोलो,
सद्ध्यान से तप तपो दृग पूर्ण खोलो ।
सिद्धान्त को गुरुकुली बन के पढ़ोगे,
सद्यः सभी श्रुत विशारद जो बनोगे ॥१७५॥

ज्वल्य मान इक दीपक से अनेकों,
हैं शीघ्र दीप जलते अयि मित्र देखो ।
आचार्य दीप सम हैं तमको मिटाते,
आलोक धाम हमको सहसा बनाते ॥१७६॥

(१५) आत्म सूत्र

तत्वों, पदार्थ निचयों, जड़वस्तुओं में,
है जीव ही परम श्रेष्ठ यहाँ सबों में ।
भाई अनन्त गुण धाम नितान्त प्यारा,
ऐसा सदा समझ, ले उसका सहारा ॥१७७॥

आत्मा वही त्रिविध है बहिरंतरात्मा,
आदेय है परम आतम है महात्मा
दो भेद हैं परम आतम के सुजानों,
हैं वीतराग "अरहन्त" सुसिद्ध" मानो ॥१७८॥

मैं हूँ शरीरमय ही बहिरात्म गाता,
जो कर्म मुक्त परमातम है कहाता ।
चैतन्य धाम मुझसे, तन हैं निराला,
यों अन्तरात्म कहता, सम दृष्टिवाला ॥१७९॥

जो जानते जगत को बन निर्विकारी,
सर्वज्ञदेव अरहन्त शरीर धारी ।
वे सिद्ध चेतन-निकेतन में बसे हैं,
पाते अनन्त सुख से सहसा लसे हैं ॥१८०॥

वाक्काय से मनस से ऋषि सन्त सारे,
जो हेय जान बहिरात्मपना विसारे ।
हों ! अन्तरात्मपन को रुचि से सुधारें
पर्यंक काल परमातमको निहारें ॥१८१॥

संसार चंक्रमण ना कुल, योनियां हैं
ना रोग, शोक, गति, जाति-विजातियां हैं
ना मार्गना न गुणथानन की दशायें
शुद्धात्म में जनन मृत्यु जरा न पायें ॥१८२॥

संस्थान, संहनन, ना कुछ ना कलाई,
ना वर्ण, स्पर्श, रस, गंध विकार भाई ।
ना तीन वेद, नहिं भेद, अभेद भाता,
शुद्धात्म में कुछ विशेष नहीं दिखाता ॥१८३॥

पर्याय ये विकृतियां व्यवहार से हैं,
जो भी यहाँ दिख रहे जगमें तुझे हैं ।
पै सिद्धके सदृश हैं जगजीव सारे,
तू देख शुद्धनय से मद को हटा रे ! ॥१८४॥

आत्मा सचेतन अरूप अगन्ध प्यारा,
अव्यक्त है अरस और अशब्द न्यारा ।
आता नहीं पकड़ में अनुमान द्वारा,
संस्थान से विकल है सुख का पिटारा ॥१८५॥

आत्मा मदीय गतदोष अयोग योगी,
निश्चिंत है निडर है निखिलोपयोगी ।
निर्मोह, एक, नित, है सब संग त्यागी,
है देह से रहित, निर्मम, वीतरागी ॥१८६॥

संतोष-कोष, गतरोष, अदोष ज्ञानी,
नि:शल्य शाश्वत दिगम्बर है अमानी
नीराग निर्मद नितान्त प्रशान्त नामी,
आत्मा मदीय, नय निश्चय से अकामी ॥१८७॥

ना अप्रमत्त मम आतम ना प्रमत्त,
है शुद्ध, नय से मद मान-मुक्त ।
ज्ञाता वही सकल-ज्ञायक यों बताते,
वे साधु शुद्धनय आश्रय ले सुहाते ॥१८८॥

हूँ ज्ञानवान, मन ना, तन ना, न वाणी,
होऊं नहीं करण भी उनका न मानी ।
कर्त्ता न कारक न हूँ अनुमोददाता,
धाता स्वकीय गुणका, पर से न नाता ॥१८९॥

स्वामी ! जिसे स्वपर बोधि भला मिला है,
सौभाग्य से दृग-सरोज खुला खिला है ।
ओ क्या कदापि परको अपना कहेगा ?
ज्ञानी न मूढ़ सम दोष कभी करेगा ॥१९०॥

मैं एक शुद्धनय से दृग बोधस्वामी,
हूँ शुद्ध, बुद्ध, अवरुद्ध अबद्ध नामी ।
निर्मोह भाव करता निजलीन होऊं,
शुद्धोपयोग-जल से विधी-पंक धोऊं ॥१९१॥

प्रथम खंड समाप्त

दोहा

"ज्योतिर्मुख" को नित नमूँ छूटे भव-भव-जेल,
सत्ता मुझको मम दिखे ज्योति ज्योति का मेल ॥१॥

द्वितीय खण्ड

१६ मोक्षमार्गसूत्र

वैराग्य से विमल केवल बोध पाया,
''सन्मार्ग'' ''मार्गफल'' को जिन ने बताया।
''सम्यक्त्वमार्ग'' जिसका फल मोक्ष न्यारा,
है जैन शासन यही सुख दे अपारा ॥१९२॥

चारित्र बोध-दृग है शिवपंथ प्यारा,
ले लो अभी तुम सभी इसका सहारा ।
तीनों सराग जब लौं कुछ बन्ध नाता,
ये वीतराग बनते, शिव पास आता ॥१९३॥

धर्मानुराग सुख दे, दुख मेट देता,
ज्ञानी प्रमाद वश यों यदि मान लेता,
अध्यात्म से पतित हो पुनि पुण्य पाता,
होता विलीन परमें, निजको भुलाता ॥१९४॥

भाई अभव्य व्रत क्यों न सदा निभाले,
ले ले भले हि तप, संयम-गीत गाले ।
और गुप्तियाँ समितियाँ कुलशील पाले,
पाते न बोध दृग, ना बनते उजाले ॥१९५॥

जानों न निश्चय तथा व्यवहारधर्म,
बांधो सभी तुम शुभाशुभ अष्ट कर्म ।
सारी क्रिया वितथ हो कुछ भी करो रे !
जन्मों, मरो, भ्रमित हो भव में फिरो रे ! ॥१९६॥

सद्धर्म धार उसकी करते प्रतीति,
श्रद्धान गाढ़ रखते रुचि और प्रीति ।
चाहें अभव्य फिर भी भव भोग पाना,
ना चाहते धरम से विधि को खपाना ॥१९७॥

है पाप जो अशुभ भाव वही तुम्हारा,
है पुण्य सौम्य शुभ भाव सभी विकारा ।
है निर्विकार निजभाव नितान्त प्यारा,
हो कर्म नष्ट जिससे, सुख शान्ति धारा ॥१९८॥

जो पुण्य का चयन ही करता रहा है,
संसार को बस अवश्य बढ़ा रहा है ।
हो पुण्य से सुगति, पै भव ना मिटेगा,
हो पुण्य भी गलित तो शिव जो मिलेगा ॥१९९॥

मोही कहे कि शुभभाव सुशील प्यारा,
खोटा बुरा अशुभ भाव कुशील खारा ।
संसार के जलधि में जब जो गिराता,
कैसे सुशील शुभ भाव, ? मुझे न भाता ॥२००॥

दो बेड़ियां, कनक की इक लोह की है,
ज्यों एक सी पुरुष को कस बांधती है ।
हा ! कर्म भी अशुभ या शुभ क्यों न होवें,
त्यों बांधते नियम से जड़ जीवको वे ॥२०१॥

दोनों शुभाशुभ कुशील, कुशील त्यागो
संसर्ग राग इनका तज नित्य जागो
संसर्ग राग इनका यदि जो रखेगा
स्वाधीनता विनशती, दुख ही सहेगा ॥२०२॥

अच्छा व्रतादिकतया सुर सौख्य पाना
स्वच्छन्दता अति बुरी फिर श्वभ्र जाना ।
अत्यंत अन्तर व्रताव्रत में रहा है
छाया-सुधूप द्वय में जितना रहा है ॥२०३॥

चक्री बनो सुकृत से, सुर सम्पदायें,
लक्ष्मी मिले, अमित दिव्य विलासतायें ।
पै पुण्य से परम पावन प्राण प्यारा,
सम्यक्त्व हा ! न मिलता सुख का पिटारा ॥२०४॥

देवायुपूर्ण दिवि में कर देव आते,
वे दैव से अवनि पे नर योनि पाते ।
भोगोपभोग गह, जीवन है बिताते,
यों पुण्य का फल हमें गुरु हैं बताते ॥२०५॥

वे भोग, भोग करभी नहिं फूलते हैं,
मक्खी समा विषय में नहि झूलते हैं ।
संस्कार हैं विगत के जिससे सदीव,
आत्मानुचिंतन सुधी करते अतीव ॥२०६॥

पाना मनुष्य भव को जिन देशना को,
श्रद्धा समेत सुनना तप साधना को ।
वे जान दुर्लभ इन्हें बुधलोक सारे,
काटें कुकर्म मुनि हो शिव को पधारें ॥२०७॥

१७ रत्नत्रय सूत्र (अ) व्यवहार रत्नत्रय

तत्वार्थ में रुचि हुई, दृग हो वहींसे,
सज्ज्ञान हो मनन आगम का सही से ।
सच्चा तपश्चरण चारित नाम पाता,
है मोक्षमार्ग व्यवहार यही कहाता ॥२०८॥

श्रद्धान लाभ, बुध, दर्शन से लुटाता,
विज्ञान से सब पदार्थन को जनाता ।
चारित्रधार विधि आस्रवरोध पाता,
अत्यन्त शुद्ध निजको तपसे बनाता ॥२०९॥

निस्सार है चरित के बिन, ज्ञान सारा,
सम्यक्त्व के बिन, रहा मुनि भेष भारा ।
होता न संयम बिना तप कार्यकारी,
ज्ञानादि रत्नत्रय है भव दुःख हारी ॥२१०॥

विज्ञान का उदय हो दृग के बिना ना,
होते न ज्ञान बिन मित्र ! चरित्र नाना ।
चारित्र के बिन न हो शिव मोक्ष पाना,
तो मोक्ष के बिन कहाँ सुख का ठिकाना ? ॥२११॥

हा ! अज्ञ की सब क्रिया उलटी दिशा है
भाई क्रिया रहित ज्ञान व्यथा वृथा है
पंगू लखें अनल को न बचे कदापि,
दौड़े भले हि वह अन्ध जले तथापि ॥२१२॥

विज्ञान संयम मिले, फल हाथ आता,
हो एक चक्र रथको, चल वो न पाता ।
होवे परस्पर सहायक पंगु अन्धा,
दावाग्नि से बच सके, कहते जिनंदा ॥२१३॥

(आ) निश्चय रत्नत्रय सूत्र

संसार में समयसार सुधा-सुधारा,
लेता प्रमाण नयका न कभी सहारा ।
होता वही दृगमयी वर बोध-धाम
मेरे उसे विनय से शतशः प्रणाम ॥२१४॥

साधू चरित्र, दृग बोध समेत पालें,
आत्मा उन्हें समझ, आतम गीत गालें ।
ज्ञानी नितान्त निजमें निजको निहारें
वे अन्त में गुण अनन्त अवश्य धारें ॥२१५॥

ज्ञानादि रत्नत्रय में रतलीन होना,
धोना कषाय मलको, बनना सलोना ।
स्वीकारना न करना तजना किसी को,
तू जान मोक्षपथ वास्तव में इसी को ॥२१६॥

सम्यक्त्व है वह निजातमलीन आत्मा
विज्ञान है समझना निजको महात्मा !
आत्मस्थ आतम पवित्र चरित्र होता,
जानो जिनागम यही, अपि भव्य श्रोता ॥२१७॥

आत्मा मदीय यह संयम बोध-धाम,
चारित्र दर्शनमयी लसता ललाम ।
है त्यागरूप, सुखकूप, अनूप, भूप
ना नेत्रका विषय है नित है अरूप ॥२१८॥

१८ सम्यग्दर्शन सूत्र

(अ) व्यवहार सम्यक्त्व और निश्चय सम्यक्त्व

सम्यक्त्व, रत्नत्रय में वर मुख्य नामी
है मूल, मोक्ष तरु का, तज काम कामी ।
है एक निश्चय तथा व्यवहार दूजा,
होते द्विभेद, उनकी कर नित्य पूजा ॥२१९॥

तत्वार्थ में रुचि भली भवसिन्धु सेतु,
सम्यक्त्व मान उसको व्यवहार से तू
सम्यक्त्व निश्चयतया निज आतमा ही
ऐसा जिनेश कहते शिव राह राही ॥२२०॥

कोई न भेद, दृग में, मुनि मौन में है
माने इन्हें सुबुध "एक" यथार्थ में है ।
होता अवश्य जब निश्चय का सुहेतु
सम्यक्त्व मान व्यवहार, सदा उसे तू ॥२२१॥

योगी बनो, अचल मेरु बनो तपस्वी,
वर्षों भले तप करो, बनके यशस्वी
सम्यक्त्व के बिन नहीं तुम बोधि पाओ
संसार में भटकते दुख ही उठाओ ॥२२२॥

वे भ्रष्ट हैं पतित, दर्शन भ्रष्ट जो हैं,
निर्वाण प्राप्त करते न निजात्म को हैं ।
चारित्र भ्रष्ट पुनि चारित ले सिजेंगे,
पै भ्रष्ट दर्शनतया नहिं वे सिजेंगे ॥२२३॥

जो भी सुधा दृगमयी रुचि संग पीता,
निर्वाण पा, अमर हो, चिर काल जीता ।
मिथ्यात्व रूप मद पान अरे ! करेगा
होगा सुखी न, भव में भ्रमता फिरेगा ॥२२४॥

अत्यंत श्रेष्ठ, दृग ही जग में सदा से
माना गया जड़मयी सब संपदा से
तो मूल्यवान, मणि से कब "काच" होता ?
स्वादिष्ट इष्ट, घृत से कब छाछ होता ? ॥२२५॥

होंगे हुए परम आतम हो रहे हैं
तल्लीन आत्म सुख में नित जो रहे हैं ।
सम्यक्त्व का सुफल केवल जो रहा है ।
मिथ्यात्व से दुखित हो जग रो रहा है ॥२२६॥

ज्यों शोभता कमलिनी दृगमंजु पत्र,
हो नीर में न सड़ता रहता पवित्र ।
त्यों लिप्त हो विषय से न, मुमुक्ष प्यारे,
होते कषाय मल से अति दूर न्यारे ॥२२७॥

धारें विराग दृग जो जिनधर्म पा के,
होते उन्हें विषय, कारण निर्जरा के ।
भोगोपभोग करते सब इन्द्रियों से,
साधू सुधी न बँधते विधि-बंधनों से ॥२२८॥

वे भोग, भोग कर भी बुध हो न भोगी,
भोगे बिना जड़कुधी बन जाय भोगी ।
इच्छा बिना यदि करें कुछ कार्य त्यागी,
कर्त्ता कथं फिर बनें ? उनके विरागी ॥२२९॥

ये काम भोग न तुम्हें समता दिलाते,
भाई ! विकार तुम में न कभी जगाते ।
चाहो इन्हें, यदि डरो इनसे जभी से,
पाओ अतीव दुख को सहसा तभी से ॥२३०॥

(आ) सम्यग्दर्शन अंग

ये आठ अंग दृग के, विनिशंकिता है,
निःकांक्षिता विमल निर्विचिकित्सिता है ।
मोहा अमूढ़पन है उपगूहनाको,
भाषा स्थितिकरण "वत्सल" भावना को ॥२३१॥

निःशंक हो निडर हो समदृष्टि वाले,
गाते प्रकाश भय छोड़ स्वगीत गालें ।
निःशंकिता अभयता इक साथ होती,
है भीत ही स्वयम हो भयभीत, रोती ॥२३२॥

कांक्षा कभी न रखता जड़पर्ययों में,
पाती पतंग तनके विष के फलों में ।
होता वही मुनि निकांक्षित अङ्ग धारी,
बनते उन्हें बन सभी व्रत निर्विकारी ॥२३३॥

सम्मान पूजन न वंदन जो न चाहें,
जो क्या कभी श्रमण हो निज ख्याति चाहे ?
जो संयमी यति व्रती निज आत्म खोजी,
वो सिद्ध तापस वही उसको नमोंजी ॥२३४॥

हे ! योगियो ! यदि भवोदधि पार जाना
चाहो अलौकिक अपार स्वसौख्य पाना ।
क्यों ख्याति लाभ निज पूजन चाहते हो ?
क्या मोक्ष लाभ उनसे तुम मानते हो ? ॥२३५॥

कोई घृणास्पद नहीं जग में पदार्थ,
सारे सदा परिणमें निज में यथार्थ ।
ज्ञानी न ग्लानि करते फलतः किसी से,
धारें तृतीय दृग अंग तभी खुशी से ॥२३६॥

ना मुग्ध, मूढ़, मुनि हो जग वस्तुओं में,
हो लीन आप अपने अपने गुणों में ।
वे ही महान समदृष्टि अमूढ़ दृष्टि,
नासाग्र-दृष्टि रख, नाशत कर्म सृष्टि ॥२३७॥

चारित्र बोधि दृग से निजको सजाओ,
धारो क्षमा, तप तपों विधि को खपाओ ।
माया-विमोह ममता तज, मार मारो,
हो वर्धमान, गतमान, प्रमाण धारो ॥२३८॥

शास्त्रार्थ गौण न करो, न उसे छुपाओ,
विज्ञान का मद घमण्ड नहीं दिखाओ ।
भाई किसी सुबुध की न हँसी उड़ाओ,
आशीश दो न पर को, पर को भुलाओ ॥२३९॥

ज्यों ही विकार लहरें मन में उठें तो,
तत्काल योग त्रय से उनको समेटो ।
औचित्य ! अश्व जब भी पथ भूलता हो,
ले लो लगाम करमें, अनुकूलता हो ॥२४०॥

हे ! भव्य गौतम ! भवोदधि तैर पाया,
क्यों व्यर्थ ही रुक गया, तट पास आया !
ले ले छलांग झटसे अब तो धरापे
आलस्य छोड़, वरना दुख ही वहाँ पे ॥२४१॥

[illegible] समेत-चलते बुध धर्मिकों की-
[illegible] सभक्ति करते उनके गुणों की ।
[illegible] मिले वचन जो नित बोलते हैं,
[illegible] अंग धरते, दृग खोलते हैं ॥२४२॥

[illegible] ! सुयोग रत हो गिरि हो अकम्पा,
[illegible] सदैव उर जीव दयाऽनुकम्पा ।
[illegible] नित दो तज वासना दो,
[illegible] करो कि जिनधर्म प्रभावना हो ॥२४३॥

[illegible] निमित्त सुशास्त्र ज्ञाता,
[illegible] विद्यमान, वृषके उपदेश दाता ।
[illegible] कवीश विशेष वक्ता
[illegible] वृषका महत्ता ॥२४४॥

५८. सम्यग्ज्ञान सूत्र

[illegible] को सुन, हिताहित बोध पाओ,
[illegible] हग समझो, सुख शांति चाहा ।
[illegible] को जान भला, तन हग भाई !
[illegible] न हो कुगति में पति हो सगाई ॥२४५॥

[illegible], ज्ञान पथका शिवपथ पंथी,
[illegible] विचरते, तन सर्वग्रंथि ।
[illegible] तप संयम ध्यान धारें,
[illegible] निज जीवन को सुधारें ॥२४६॥

ज्यों, ज्यों श्रुताम्भोनिधि में डुबकी लगाता,
त्यों, त्यों बनी नव नवीन प्रमोद पाता ।
वैराग्य भाव बढ़ता श्रुतभावना हो,
अज्ञान का दुख, नहीं फिर वासना हो ॥२४७॥

सूची भलेहि करसे गिर भी गई हो,
खोती कभी न यदि डोर लगी हुई हो ।
साधू ससूत्र यदि हो, श्रुत बोध वाला,
होता विनष्ट भवमें न, रहे खुशाला ॥२४८॥

भाई भले तुम बनो बुध मुख्य नेता,
वक्ता कवी विविध वाङ्मय वेद वेत्ता ।
आराधना यदि नहीं दृग की करोगे,
तो बार-बार तन धार दुखी बनोगे ॥२४९॥

तू राग को तनिक भी तन में रखेगा,
शुद्धात्म को फिर कदापि नहीं लखेगा ।
होगा विशारद जिनागम में भले ही
आत्मा त्वदीय दुख से भव में रुले ही ॥२५०॥

आत्मा न आतम अनातम को लखेगा,
सम्यक्त्वपात्र किस भांति अहो बनेगा
आचार्य देव कहते बन वीतरागी,
क्यों व्यर्थ दुःख सहता, तज राग रागी ॥२५१॥

तत्वावबोध सहसा जिससे जगेगा,
चांचल्यचित्त जिससे वश में रहेगा ।
आत्मा विशुद्ध जिससे शशि सा बनेगा,
होगा वही विमल "ज्ञान" स्व सौख्य देगा ॥२५२॥

महात्म्य ज्ञान गुण का यह मात्र सारा,
रागी, विराग बनता तज राग खारा ।
मैत्री सदैव जग से रखता सुचारा,
शुद्धात्म में विचरता, सुख पा अपारा ॥२५३॥

[illegible], अनन्त, निज, शून्य उपाधियों से,
[illegible] भिन्न पर से, विधि बन्धनों से ।
[illegible] निरन्तर निजातम देखते हैं ?
[illegible] समग्र जिनशासन जानते हैं ॥२५४॥

[illegible] काय से विकल, केवल, केवली हूँ
[illegible] एक हूँ विमल ज्ञायक हूँ , बली हूँ
[illegible] मानता स्वयम को इस भाँति स्वामी !
[illegible] हो यह जिनागमपारगामी ॥२५५॥

[illegible] [illegible]धरत हो निजको विशुद्ध
[illegible], [illegible] सहज शुद्ध अबद्ध बुद्ध ।
[illegible] स्वको समज रागमयी विचारा,
[illegible] न मुक्त भावगे, दुख हो अपारा ॥२५६॥

[illegible] जानते मुनि निजातम को यदा है,
[illegible] जानते निजगुण परको तदा है ।
[illegible] जानना स्वपर को इक साथ होता
[illegible] जिनागम यहा, गुण गाते खोता ॥२५७॥

[illegible] [illegible] [illegible] मुनि जानते हैं,
[illegible] [illegible] [illegible] तब जागते हैं ।
[illegible] [illegible] का अनुपदेश सुना हमेशा,
[illegible] [illegible] तब शीघ्र बनो महेशा ॥२५८॥

[illegible] [illegible] सर में डुबकी लगाले,
[illegible] तू स्वार्पित हो सुख तृप्ति पाले ।
तो अन्त में बल अनन्त ज्वलन्त पाके
विश्राम ले, अमित काल स्वधाम जाके ॥२५९॥

अर्हन्त स्वीय गृह को द्रुत जा रहें हैं,
वे शुद्ध-द्रव्य गुण पर्यय पा रहे हैं ।
जो जानता यति उन्हें निज जानता है
संमोह कर्म उसका झट भागता है ॥२६०॥

ज्यों वित्त बाँट स्वजनों नहिं दूसरों में,
भोगी सुभोग करता दिन रात्रियों में ।
पा नित्य ज्ञान निधि, नित्य नितान्त ज्ञानी,
त्यों हो सुखी, न रमता पर में अमानी ॥२६१॥

२० सम्यक्चारित्र सूत्र

(अ) व्यवहार चारित्र सूत्र

होते सुनिश्चय नयाश्रित वे अनूप,
चारित्र और तप निश्चय सौख्यकूप ।
पै व्यावहार नय-आश्रित ना स्वरूप
चारित्र और तप वे व्यवहार रूप ॥२६२॥

जो त्यागना अशुभको शुभ को निभाना
मानो उसे हि व्यवहार चरित्र बाना ।
ये गुप्तियाँ समितियाँ व्रत आदि सारे,
जाते सदैव व्यवहारतया पुकारे ॥२६३॥

चारित्र के मुकुट से शिर ना सजोगे,
आरूढ़ संयममयी रथ पे न होगे ।
स्वाध्याय में रत रहो तुम तो भले ही
ना मुक्ति मंजिल मिले, दुख ना टले ही ॥२६४॥

देता क्रियारहित ज्ञान नहीं विराम,
मार्गज्ञ हो यदि चलो न, मिले न धाम ।
किंवा नहीं यदि चले अनुकूल वात,
पाता न पोत तट को यह सत्य बात ॥२६५॥

चारित्र शून्य नर जीवन ही व्यथा है,
तो आगमाध्ययन भी उसका वृथा है ।
अन्धा कदापि कुछ भी जब ना लखेगा
जाज्वल्यमान करदीपक क्या करेगा ? ॥२६६॥

अत्यल्प भी बहुत है श्रुत ही उन्हीं का,
जो संयमी, सतत ध्यान धरूँ उन्हीं का ।
सागार का बहुत भी श्रुत बोध "भारा",
चारित्र को न जिसने उरसे सुधारा ॥२६७॥

(आ) निश्चय चारित्र

आत्मार्थ आतम निजातम में समाता,
सच्चा सुनिश्चय चरित्र वही कहाता ।
है भव्य पावन पवित्र चरित्र पालो
पाती आपं पतको, निजको दिपालो ॥२६८॥

शुद्धात्म को समझके परमोपयोगी,
है पाप पुण्य तजता, धर योग योगी ।
जो निर्विकल्प मय चारित है कहाता,
मेरे समा निकट भव्यन को सुहाता ॥२६९॥

रागाभिभूत बन तू पर को लखेगा,
भाई शुभाशुभ विभाव खरीद लेगा ।
तो वीतराग मय चारित से गिरेगा,
संसार बीच पर चारित से फिरेगा ॥२७०॥

हो अंतरंग बहिरंग निसंग नंगा,
शुद्धात्म में विचरता जब साधु-चंगा ।
सम्यक्त्व बोधमय आतम देख पाता,
आत्मीय चारित सुधारक है कहाता ॥२७१॥

आतापनादि तप से तन को तपाना
अध्यात्म से स्खलित हो व्रत को निभाना
हे मित्र ! बालतप संयम वो कहाता,
ऐसा जिनेश कहते, भव में घुमाता ॥२७२॥

लो ! मास मास उपवास करे रुची से,
अत्यल्प भोजन करें न डरे किसी से ।
पै आत्म बोध बिन मूढ़ व्रती बनेगा ?
ना धर्म लाभ लवलेश उसे मिलेगा ॥२७३॥

चारित्र ही परम धर्म यथार्थ में है,
साधू जिसे शममयी लख साधते हैं ।
मोहादिसे रहित आतम भाव प्यारा,
माना गया समय में शम साम्य सारा ॥२७४॥

मध्यस्थ भाव समभाव, विराग भाव,
चारित्र, धर्ममय भाव, विशुद्ध भाव ।
आराधना स्वयम की पद सात सारे
हैं भिन्न भिन्न, पर आशय एक धारें ॥२७५॥

शास्त्रज्ञ हो श्रमण हो समधी तपस्वी,
हो वीतरागी व्रत संयम में यशस्वी ।
जो दुःख में व सुख में समता रखेगा
शुद्धोपयोग उस ही क्षण में लखेगा ॥२७३॥

शुद्धोपयोग दृग है वर बोध-भानु
निर्वाण, सिद्धि, शिव भी उसको हि जानूँ ।
मानूँ उसे श्रमणता मन में बिठालूँ ?
बंदूँ उसे नित नमूँ निज को जगालूँ ॥२७७॥

शुद्धोपयोग वश साधु सुसिद्ध होते,
स्वात्मोत्थ-सातिशय शाश्वत सौख्य जोते ।
जाती कही न जिसकी महिमा कभी भी,
अन्यत्र छोड़ जिसको सुख ना कहीं भी ॥२७८॥

वे मोह राग-रति-रोष नहीं किसी से
धारें सुसाम्य सुख में दुख में रुचि से ।
होके बुभुक्षु नहिं, भिक्षु, मुमुक्षु होके
आते हुए सब शुभाशुभ कर्म रोके ॥२७९॥

(३) समन्वय सूत्र

है वीतराग व्रत साध्य सदा सुहाता,
होता सराग व्रत साधन, साध्यदाता ।
तो पूर्व साधन, अनन्तर साध्य धारो,
संपूर्ण बोध मिलता, शिवको पधारो ॥२८०॥

ज्यों भीतरी कलुषता मिटती चलेगी,
त्यों बाहरी विमलता बढ़ती बढ़ेगी ।
देही प्रदोष मन में रखता जभी है,
हा! बाह्य दोष सहसा करता तभी है
रे! पंक भीतरी सरोवर में रहा है
जो बाह्य में जल कलंकित हो रहा है ॥२८१॥

जो पांच पाप तज, पावन पुण्य पाता,
हो दूर भी अशुभ से शुभको जुटाता ।
रागादि भाव फिर भी यदि ना तजेगा
शुद्धात्म को न मुनि होकर भी भजेगा ॥२८३॥

तो आदि में अशुभ को शुभ से मिटाओ,
शुद्धोपयोग बल से शुभको हटाओ ।
ऐसा अनुक्रमण से कर कार्य योगी ।
ध्याओ निजात्म-जिनको, सुख शांति होगी॥२८४॥

चारित्र नष्ट, जब हो, दृग बोध घाते
जाते सुनिश्चय सही रह वे न पाते
हो या न हो विलय पै दृग बोध का रे ।
जावे चरित्र, मत यों व्यवहारका रे ! ॥२८५॥

श्रद्धापुरी सुरपुरी सम जो सजाओ,
ताला वहाँ सुतप संवर का लगाओ
पाताल गामिनि क्षमामय खातिका हो
प्राकार गुप्तिमय हो नभ छू रहा हो ॥२८६॥

औ धैर्य से धनुष-त्यागमयी सुधारो,
सद्ध्यान वाण बल से विधि को विदारो ।
जेता बनो विधि रणांगन के मुनीश !
हो वो विमुक्त भवसे, जगदीश धीश ॥२८७॥

- २१ साधना सूत्र -

उद्‌बोधि प्राप्त करलो गुरु गीत गालो,
जीतो क्षुधा विषय मन को बचालो ।
निद्राजयी बन दृढ़ासन को लगालो,
पश्चात् सभी तुम निजातम ध्यान पालो ॥२८८॥

संपूर्ण ज्ञान-मय-ज्योति-शिखा जलेगा,
अज्ञान मोहतम पूर्ण तभी मिटेगा ।
हो नष्ट, राग रति रोषमयी प्रणाली,
उत्कृष्ट सौख्य मिलता, मिटती भवाली ॥२८९॥

दु:संग से बच जिनागम चित्त देना,
एकान्त वास करना, धृतिधार लेना ।
सूत्रार्थ चिंतन तथा गुरु वृद्ध सेवा
ये ही उपाय शिव के, मिल जाय मेवा ॥२९०॥

हो चाहते मुनि पुनीत समाधि पाना,
साथी, व्रती श्रमण बुध को बनाना ॥
एकान्त वास करना, भय त्याग देना,
शास्त्रानुसार, मित भोजन मात्र लेना ॥२९१॥

जो अल्प, शुद्ध, तप वर्धक अन्न लेते
क्या वैद्य औषध उन्हें कुछ काम देते ?
ना गृद्धता अशन में रखते न लिप्सा
वे वैद्य हो, कर रहे अपनी चिकित्सा ॥२९२॥

प्राय: अतीव रस सेवन हानिकारी,
उन्मत्तता उछलती उससे विकारी ।
पक्षी समूह, फल-फूल-लदे द्रमों को
ज्यों कष्ट दें, मदन त्यों विषयी जनोंको ॥२९३॥